International Journal of Research inSocial Science
Vol. 12 Issue 04, April 2022,
ISSN: 2249-2496 Impact Factor: 7.081
Journal Homepage: http://www.ijmra.us, Email: editorijmie@gmail.com
Double-Blind Peer Reviewed Refereed Open Access International Journal - Included in the International Serial Directories Indexed & Listed at: Ulrich's Periodicals Directory ©, U.S.A., Open J-Gate as well as in Cabell's Directories of Publishing Opportunities, U.S.A

बौद्ध दर्शन में पर्यावरणीयनीति की वर्तमान में प्रासंगिकता

Dr Sipu Jayswal, Associate Professor
Janki Devi Memorial College, University of Delhi
Sir Ganga Ram Hospital Marg, Old Rajinder Nagar, New Delhi-110060

पर्यावरण के असंतुलन की समस्या के संदर्भ में, उसका स्वरूप व कारण दार्शनिक दृष्टि से क्या है, बौद्ध आचारशास्त्र के अनुसार उसका निदान है। बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि, दुख भी सनातन नहीं है। दुख किसी कारण से है और उस कारण का निदान भी हैं। पुनः निदान का मार्ग भी हैं। अतः पर्यावरण असंतुलन जिस कारण है, उसका निदान भी है ओर उस निदान का मार्ग भी है। यह सत्य है कि मानव जीवन का लक्ष्य चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, दोनों की ही प्राप्ति मे स्वस्थ पर्यावरण की आवश्यकता है क्योंकि यही वह साधन है, जिससे दोनों ही लक्ष्यों की पूर्ति होती है। इसलिए पर्यावरण की रक्षा अनिवार्य ह। अतः हमें यह प्राथमिकता तय करनी पड़ेगी कि, पर्यावरण के किस तत्व की रक्षा सबसे पहले आवश्यक है ? भौतिक संसाधन चूंकि मानव के जीवन का एक मात्र स्रोत हैं। अतः उनकी रक्षा से ही प्रारम्भ कर, पर्यावरण संतुलन की दिशा में अन्य तत्वों की रक्षा का प्रयास करना होगा। इस प्रक्रिया में हमें यह ध्यान रखना होगा कि प्रकृति की अनन्त संभावनाओं को हम नहीं जान सकते। जगत् में होने वाली क्रिया–प्रतिक्रिया द्वारा हम प्राकृति घटनाओं का केवल अनुमान लगा सकते हैं। हम न उन घटनाओं को घटने से रोक सकते हैं, न उसमें कोई परिवर्तन कर सकते हैं। अतः प्रदत्त जगत में मानव केवल प्रकृति के अनन्त विकल्पों के साथ बिना प्रकृति को हानि पहुचाये सामान्जस्य स्थापित कर सकता है, तथा इस सामन्जस्य के लिए अपनी भूमिका निर्धारित कर सकता है। जिसमें सर्वप्रथम 'त्याग' पूर्ण जीवन जीने का अभ्यास पहला कदम है। जीवन के हर छोटे से छोटे व बड़े से बड़े क्षेत्र में त्याग ही इसका एक मात्र निदान है। अतः 'त्याग' की भावना का विकास पर्यावरण संतुलन का एक महत्वपूर्ण आधार है। इसके अभाव में हम किसी भी रूप में, किसी भी तरीके से पर्यावरण की रक्षा नहीं कर सकते हैं। मानवीय प्रवृति के गहन अध्ययन से तथा उस प्रवृति के पारिस्थितिकीय पर पड़ने वाले प्रभाव के परिणाम से यह तथ्य सिद्ध हो चुका है। बड़े से बड़े उदाहरण को देखें या छोटी से छोटी क्रियाओं का पर्यावरण पर प्रभाव देखें, मानव की बढ़ती हुई आवश्यकता व आकांक्षा, पर्यावरण को किसी भी बिन्दु पर संरक्षण प्रदान नहीं कर सकती है। इसलिए कितनी भी कठिनाई से इस तथ्य को स्वीकार करना पड़े, उसे करना चाहिए। अन्यथा मानवीय नैतिक मूल्यों का पर्यावरण के संदर्भ में मूल्याकंन संभव नहीं है। सादगीपूर्ण जीवन का निर्वाह कर हम अपने जीवन को सरल बना ही सकते हैं साथ ही पर्यावरण को भी संतुलित रखने में अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह कर सकते हैं। इस प्रकार मन, वचन और कर्म तीनों से 'त्याग' का अभ्यास पर्यावरण संरक्षक का एक आवश्यक आधार है। 'त्याग' से ही ' अपरिग्रह' की भावना में वृद्धि होती है।

मानवीय इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि, मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में तृष्णा से वशीभूत हो प्राकृतिक तत्वों का अन्धाधुंध दोहन करता रहा है। परिग्रह पूर्वक जीवन प्राकृतिक असंतुलन को नित्य प्रतिदिन बढ़ावा देता रहा है। तृष्णा से मुक्त हुए बिना इन समस्यों से मुक्ति सम्भव नहीं हैं। इन विषम परिस्थितियों में जीवन यापन के लिए प्राकृतिक संसाधनों का परिग्रह पूर्वक उपभोग करने के स्थान पर यदि स्वयं में 'संयम' को विकसित किया जाए तथा

अनुशासनमय जीवन व्यतीत किया जाए, तो पर्यावरण असंतुलन से बचा जा सकता है। अनुशासन, संयम, त्याग आदि के अभ्यास के लिए बौद्ध आचारशास्त्र में जिस ' मध्यममार्ग' की व्याख्या की गई है, वह आज के संदर्भ में अत्यन्त प्रसांगिक है। सिर्फ बौद्ध आचारशास्त्र ने ही मध्यममार्ग को संतुलित जीवन के लिए आवश्यक नहीं माना है, बल्कि पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी इसे महत्व प्रदान किया है। अरस्त् ने भी अपने आचार शास्त्र में मध्यम मार्ग की विस्तृत विवेचना की है।

'अति विलास' तथा 'अति शारीरिक शोषण' दोनों के मध्य रहने से ही इसे 'मध्यम मार्ग' कहा जाता है। भगवान् बुद्ध के अनुसार अत्यंत कृश या रूग्ण बना देने या नाना विधि उपायों से दण्डित करने से न पापा से मुक्ति मिलती है, और न ही पुण्यों की प्राप्ति होती है। अतः शरीर को नियंत्रित करने से पूर्व मन को नियंत्रित करना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण पापों का मूल मन ही है, अतः साधकों को इन दोनों अतिवादों से बचना चाहिए। भगवान् बुद्ध से इसे समझाने के लिए वीणा का उदाहरण दिया है, जिसे न तो बहुत ढीला छोड़ा जा सकता है, और न ही बहुत जोर से खींचा जा सकता है।" जिस प्रकार के संतुलन से वीणा बजती है, उसी प्रकार के संतुलन से जीवन चलता है। स्वस्थ पर्यावरण 'संतुलन' का ही परिणाम है, चाहे वह सांस्कृतिक पर्यावरण हो सामाजिक, वैचारिक या प्राकृतिक।जीवन की गति पर्यावरण के उसी वातावरण में होती है, जिसमें सामन्जस्य हो, संतुलन हो। यह संतुलन अति का निषेध ही है। जो प्रकृति में स्वतः होता है, और मानवीय प्रवृत्ति में मन और चित्त के संतुलन द्वारा आता है। अतः भोगवाद और शरीर पीड़ा की अतियो से बचकर जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने 'आर्य 'आष्टांगिक मार्ग' के रूप में समन्वित जीवन विधि का विकास किया, उसी प्रकार, 'विचार' के क्षेत्र में भी उन्होंने समन्वय का विधान किया है। तथागत का एक मात्र लक्ष्य नैतिक तत्व की प्रतिष्ठा करना ही था, और उन्होंने उसे विशुद्धतम रूप में प्रस्तुत किया है। जिसका उपयोग संतुलित जीवन जीने के लिए किया जा सकता है। यह पर्यावरण संतुलन का दूसरा महत्वपूर्ण आधार है। बौद्ध आचार शास्त्र के एक अन्य पहलु पर भी विचार करना यहाँ प्रासंगिक है। जो बौद्ध आचारशात्र कि तात्विक व वस्तुनिष्ठ प्रतिष्ठा करता है। वह है 'प्रतीत्यसमत्पाद' जिसकी सर्वाधिक प्रचलित चर्चा 'द्वादशनिदान' के विश्लेषण में पाई जाती है। यह हमारे सम्पूर्ण 'नामरूप' अस्तित्व एवं व्यक्ति के दुख के कारण और उसके निदान की सुख की, सामाजिक सदाचार की और उत्तम जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया से जुड़ा सिद्धांत है।

"प्रतीत्यसमुत्पाद का सामान्य सिद्धांत अपने अनुलोम और प्रतिलोम दोनों रूपों में इस 'द्वादशनिदान' में मिलता है। अनुलोम को प्रतिलोम में अर्थात् दुख और पुनर्जन्म की प्रक्रिया को सुख और निर्वाण की प्रक्रिया में बदलना, किसी व्यक्ति के स्वयं के प्रयास पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में पच्चता रूप नियतिवाद (conditionality-based determinism as againststrict determinism of the ajvikas) के बावजूद इसमें व्यक्ति स्वातंत्र्य की पूरी गुंजाइश है। प्रतिलोम की प्रक्रिया में अपने को शुद्ध और अनुलोम की प्रक्रिया में अपने को अशुद्ध करने का सारा श्रेय व्यक्ति (अत्तकार, effort of the individual) को ही जाता है। इसमें कोई दूसरा (जैसे– ईश्वर, नियति आदि) कुछ नहीं कर सकता।"[1] सुधी असुधी पच्चतं नाज्ज अजो विसोधये।।[2] (धम्मपद 165!!)

[1] हरिशंकर प्रसाद, " *प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद की अवधारणा : एक दार्शनिक समीक्षा*" डॉ. तेज सिंह (सं.) अपेक्षा, अप्रैल–जून, 2004, दिल्ली, पृ. 47

[2] *धम्मपद,* (सं) राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौसल्यायन, जगदीश कश्यप, सारनाथ : उत्तमभिक्शु प्रकाशन, 1937

"प्रतीत्यसमुत्पाद एक सार्वभौमिक गतिशील प्रक्रिया का उद्घाटक सिद्धांत है, जो व्यक्ति के नामरूप जीवन में और एक पौध की उत्पत्ति और विकास को प्रक्रिया में कोई भेद नहीं करता।' अंगुत्तर निकाय' इन दोनों की तुलना करते हुए कहता है : 'कर्म खेत है, विज्ञान बीज, और तन्हा सिंचन है। ये तीन अविद्या से आच्छादित और तन्हा से , संयोजित व्यक्ति को तुच्छ योनि में पुनर्जनम लेने के कारण बनते ह।[3] अर्थात प्रतीत्यसमुत्पन्न व्यक्ति के आचार, विज्ञान के संस्कार (dispositions) और उसकी तण्हा प्रवृत्ति की गुणवत्ता के दोषपूर्ण होने के कारण से दुखमय जीवन की प्राप्ति होती है। दूसरे शब्दों में यदि किसी व्यक्ति को प्रतीत्समुत्पाद का समुचित ज्ञान हो, उसका आचार शुद्ध हो, उसका विज्ञान अकुशल संस्करों से रहित हो और उसकी तण्हा का क्षय हो गया हो, तो वह निश्चित रूप से दुखमय जीवन पर विजय प्राप्त कर शांति का प्राप्त करते हुए, दुखमय पुनर्जन्म से निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इस पूरी प्रक्रिया में प्रतीत्समुत्पाद का सामान्य सिद्धांत कार्यरत रहता है। इसमें किसी व्यक्ति की नित्य सुख–शांति उसके 'सम्यकज्ञान' और सदाचार की नींव पर आधारित होती है। जिसमें क्रमिक शिक्षा, क्रिया और सदाचार का विशेष योगदान होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रक्रिया में एक विस्तृत अर्थ में सदाचार की अहम् भूमिका है। द्वादश निदान मूलतः मानव जीवन की उत्पत्ति, प्रक्रिया एवं व्यापार तथा उससे जनित दुखः और उससे मुक्ति की प्रतीत्यसमुत्पादीय व्याख्या करता है। तथा मानव के स्वयं के प्रयासों से दुख से निवृत्ति तथा सुख, शांति और निवार्ण प्राप्ति की निश्चितता को स्थापित करता है।"[4]

इस प्रकार बौद्ध आचार शास्त्र मे प्रतीत्यसमुत्पाद कर्त्ता के स्वातंत्रय को स्पष्ट करता है, उपरोक्त व्याख्या से बौद्ध दर्शन के ज्ञान मीमांसीय, तत्व मीमांसीय एवं नीतिशास्त्रीय परिणाम के गंभीर और दार्शनिक महत्व को समझा जा सकता है। यही भगवान् बुद्ध की सम्बोधि है। यह मानवीय एवं अमानवीय, भौतिक एवं वैचारिक संपूर्ण विश्व के अस्तित्व के स्वरूप को भी दर्शाता है। जिसकी सत्तात्मक स्थिति है, जो मनोवैज्ञानिक एवं भौतिक दोनों प्रकार के क्षेत्रों में क्रियावान् है। जिसके सम्पूर्ण ज्ञान से किसी भी वस्तु या घटना के स्वरूप को जाना जा सकता है एवं अपनी स्वतंत्र इच्छा शक्ति से पर्यावरण के संतुलन में अपनी भूमिका को निर्धारित किया जा सकता है। अतः 'प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान' पर्यावरण के संतुलन का तीसरा महत्वपूर्ण आधार है।

पर्यावरण संतुलन में उपरोक्त चर्चा से एक बात और प्रकाश में आती है, वह है 'शिक्षा'। शिक्षा ही वह साधन है जो जन–जन के मध्य पर्यावरण के सहो स्वरूप को ला सकती है तथा उसकी सुरक्षा के लिए उपरोक्त निदानोंका प्रचार व प्रसार कर सकती है। शिक्षा का सूचनात्मक माध्यम विश्व में घटने वाली घटनाओं को विस्तार स नित्य हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। परन्तु हम इन सूचनाओं का क्रियात्मक व रचनात्मक प्रयोग नही कर रहें हैं। इस मात्र सूचना समझ, अंत में रद्दी की टोकरी में डाल, समस्या टल गई ऐसा सोच लेते हैं। ऐसे में पर्यावरण के प्रति अपनी चेतना को जागरूक करने का अवसर हम स्वयं को नहीं देते हैं। ऐसा देखा जाता है कि इन सूचनाओं से हम विचलित तो होते हैं, साथ ही कुछ समुदाय अपनी स्वार्थ की सिद्धि हेतु इस पर विरोध भी व्यक्त करते हैं। परन्तु यह सब मात्र कर्त्तव्यों के नाम पर औपचारिकता ही है। वास्तविकता तो यह है कि, मानव को अपने नित्य प्रतिदिन के आचारण में पर्यावरण के प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। व्यावहारिक धरातल पर शिक्षा का रचनात्मक उपयोग बौद्ध

[3] *अंगुत्तर निकाय,* खण्ड–1, पृ. 223–224

[4] हरिशंकर प्रसाद, " *प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद की अवधारणा : एक दार्शनिक समीक्षा"* डॉ. तेज सिंह (सं.) अपेक्षा, दिल्ली, अप्रैल–जून, 2004, पृ. 47–48

आचार तत्व में वर्णित तथ्यों का अभ्यास है। न सिर्फ बौद्ध आचार तत्व बल्कि जहाँ कहीं भी जिस किसी भी रूप में पर्यावरण के संरक्षण हेतु इन तत्वों की प्राप्ति हो उसे अपनाना होगा। उस पर चिंतन व मनन करना होगा। 'जातक' जैसे साहित्य में वर्णित तथ्यों को रूढ़िवादिता का नाम देकर अपने दायित्वों को नकार देना उचित नहीं है। बल्कि यदि हम अपने आसपास की घटनाओं को ध्यान से देखें व समझें तो उसके मूल में परम्पराओं से प्राप्त मान्यताओं का हनन ही पाएंगे। इसलिए आवश्यकता है, इन मान्यताओं के पुनर्मूल्यांकन की और उसे आज की आधुनिक परिभाषा से जोड़ने की। अतः दान, करूणा, मैत्री, त्याग, उपेक्षा आदि मानव की मूल मानसिक प्रवृत्तियों की पुनः व्याख्या आवश्यक है। यह ठीक है कि बुद्धकाल में ये मानसिक प्रवृत्तियाँ अपने चरम पर हों। आज ये प्रवृत्तियाँ मलिन अवश्यक हुई हैं परन्तु आंशिक रूप से आज भी मानवीय चित्त में उपस्थित है। उन्हें अभ्यास द्वारा या बौद्ध परम्परा की विपश्यना विधि द्वारा पुनः जागृत करने की आवश्यकता है, ताकि मानवीय धर्म, पर्यावरणीय संरक्षण में सहयोग प्रदान कर सके।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि, पर्यावरणीय समस्याएं आज जितने विशाल व विकृत रूप में हमारे समक्ष हैं, वह आज एक ही दिन में उत्पन्न नहीं हुई हैं। अतः उतने ही परिमाण का एकाएक कोई निदान ढूँढना पर्यावरण की समस्या की ठीक से पहचान का न होना है, या इस समस्या की गंभीरता को अनदेखा करना है। जिन छोटे–छोटे कृत्यों से आज इस समस्या ने इतना विकराल रूप धारण किया है, उन्हीं छोटे–छोटे कृत्यों को नियंत्रित व संतुलित कर के ही एक दिन समस्या के बराबर परिमाण वाले समाधान को खड़ा किया जा सकता है। जिसके लिये एक ओर तो यह ध्यान रखना होगा कि, समस्या और अधिक विकृत न हो, उसे बढ़ने से रोकना होगा। दूसरो ओर अपने व्यवहार को नियंत्रित कर पर्यावरण को सुरक्षा प्रदान करनी होगी । प्रकृति की समृद्धि में प्राकृतिक क्रियाकलापों के साथ सामन्जस्य स्थापित करना होगा। तभी एक दिन पर्यावरण को संतुलित रूप में देखने की पूर्ण संभावना साकार हो सकती है।

इस क्षेत्र में ऐसा प्रयास किया जाए जो सामूहिक हो। ऐसा नहीं है कि किसी निदान का विश्व के एक कोने पर, किसी एक प्रयोगशाला में प्रयोग किया जाए, तो उससे पूरे विश्व का कल्याण होगा। पर्यावरण के संदर्भ में तो यह प्रयोग जन–जन के जीवन में और व्यवहार में आना चाहिए। तभी पर्यावरण की विकटता का सामना किया जा सकता है।

'बुद्धिज्म एण्ड इकोलॉजी' में भी कहा गया है कि अगर बौद्ध अन्वेषण पारिस्थितिकी के लिए सत्य है, तो कागज को पुनः उपयोग करने वाले और ओजोन के साथ सामंजस्य रखने वाले हेयरस्प्रे से आगे हमें सोचना और करना पड़ेगा। सिर्फ ये विचार दे देने से यह बात नहीं बनेगी। इन सब चीजों से जो पयावरण की समस्या बढ़ रही है उससे सहमत लोगों की संख्या भी बढ़ रही है। आज वस्तुनिष्ठ होकर हम अपने आस–पास के पर्यावरण को देखें तो हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि स्वार्थ और लालच एक रात में ही गायब नहीं हो जायेंगे। हमें कई चरणों में इस समस्या का निदान करना पड़ेगा। इस संदर्भ में बौद्ध समाधान के अनुसार पहला चरण है। हमारा कर्म उचित हो, अच्छा हो और यह समझना कि हमारी वर्तमान जीवन पद्धति कैसे हमारे वश में नहीं है? अथवा कैसे हमारे अनुसार नहीं चलती है?[5]

[5]Stephen Batchelor, "The sand of the Ganges: Notes towards a Buddhist ecological philosophy" Martine batchelor & Kerry Brown (ed.) Buddhism and Ecology, Delhi: Motilal Banarasidas Pub. 1994; p. 38.

आज सर्वसाधारण में यह धारणा है कि समाज में जो लोभ, पाप, अनाचार व्याप्त है वह कभी भी समाप्त नहीं हो सकता, क्योंकि समाज बहुत बड़ा है। लेकिन यदि हम इस पर चिंतन करें तो पाते हैं कि, समाज मनुष्यों की इकाई का समूह है। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपने आप में एक इकाई है और यही समाज का निर्माण करती है। इसलिए हमें समाज या इतनी बड़ी जनसंख्या की चिंता करने की जरूरत नहीं है। सिर्फ प्रत्येक मनुष्य को ईमानदारी के साथ अपने आन्तरिक और बाह्य मनोभावों को परिवर्तित करने की आवश्यक है। आज हमें जल, जमीन और जगत तक सिमटे पर्यावरण के अपने संकुचित दृष्टिकोण को बौद्ध दर्शन के अनुसार थोड़ा व्यापक करने की आवश्यकता है। बौद्ध दर्शन की मान्यता के अनुसार पर्यावरण के केन्द्र में मानव है। ज्यों ही आन्तरिक पर्यावरण शुद्ध हो जायेगा बाह्य पर्यावरण, अपने आप संतुलित हो जाये। इसको हम एक छोटे से उदाहरण से समझ सकते हैं कि, जैसे–यदि हम पूरी पृथ्वी पर पुनः एक बार जंगल उत्पन्न कर भी दें, लेकिन जब तक अपने अंदर अपरिग्रह त्याग, दया, करूणा आदि भाव नहीं लायेंगें, तब तक जंगल लगाने का भी कोई सफल परिणाम नहीं होगा। क्योंकि मनुष्य पुनः उसे बहुत कम समय में ही नष्ट कर देग। अतः बाह्य विकार को दूर करने के साथ–साथ आन्तरिक विकार को दूर करना भी आवश्यक है।

मैं यह स्वीकार करती हूँ कि संसार में बुद्ध सदृश सम्पूर्ण पारिमिताओं एवं शील से युक्त सत्पुरुषों की संख्या कम है। लेकिन फिर भी यदि कुछ पुरूष भी इस तरह के, समाज हों तो भी इस समाज को दिशा मिल जायेगी। क्योंकि "फूलों की गन्ध हवा के विपरीत नहीं जाती, न ही चन्दन, तगर या चमेली की । लेकिन सत्पुरूषों की सुगन्ध हवा के विपरीत जाती है। सत्पुरूष सभी दिशाओं में अपनी सुगन्ध फैलात हैं।[6] इस प्रकार सत्पुरूष सभी दिशाओं में दूर–दूर तक पर्यावरण को संरक्षित, सुवासित एवं सुगन्धित करने में सक्षम सिद्ध होंगे। इसलिए शील, सदाचार का अभ्यास पर्यावरण के संतुलन में प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य है। क्योंकि " चन्दन, तगर, कमल या जूही, इन सभी की सुगन्धों से शील की सुगन्ध अनुपम है। जो यह चन्दन या तगर की गन्ध है वह अल्प मात्रा है। लेकिन जो यह शीलवानों की गन्ध है, वह उत्तम है और देवताओं में फैलती है।"[7] इस तरह यदि सभी प्राणी अपने शीलों का पालन करें तो हम पर्यावरण को बचा कर रख सकते हैं। इस प्रकार भगवान बुद्ध, सभी प्राणी सुखी हो, सब कुशलक्षेम से रहे, सब कल्याणकारी दृष्टि से देखें, किसी को कोई दुख न हो, कि कामना करते हैं। भगवान बुद्ध कि इस कामना में सम्पूर्ण जगत के स्वस्थ पर्यावरण का भाव अंर्तनिहित है।

'सब्बे सत्ता सुखी होन्तु, सब्बे होन्तु चखेमिनो ।
सब्बे भद्राणि पस्सन्तु मा कञ्चि दुक्खमागमा।।"

[6] *न पुप्फगन्धो पटिवातमंति, न चन्दनं तगरं मल्लिका वा । सतञ्च गन्धो पटिवातमेति, सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति* ॥ 54 ॥ *धम्मपद* (सं) राहुलसांकृत्यापन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन जगदीश काश्यप सारनाथ : उत्तम भिक्खु प्रकाशन, 1937 पृ. 8

[7] *चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी। एतेसं गन्धजातानं सीलगन्धा अनुत्तरो ॥ 55 ॥ धम्मपद, अप्पमतो अयं गन्धो या तं तगरचन्दनी । यो च सीलवतं गन्धो वाति देवेसु उत्तमो ।। 561। धम्मपद,* राहुल सांकृतायन, आनन्द कौसल्यायन, जगदीश काश्यप, सारनाथ : उत्तम भिक्खु प्रकाशन, 1937, पृ० – 8